मुशीरुल हसन

भारतीय मुसलमानों को समझने के संदर्भ-बिंदु

हिलाल अहमद

मशहूर इतिहासकार और पब्लिक इंटलेक्चुअल मुशीरुल हसन (1949-2018) को याद करने के दो सम्भव तरीक़े हो सकते हैं। एक यह कि हम उनके जीवन के तथ्य किसी भी वेबसाइट से उठाएँ और उन्हें ज्यों का त्यों चस्पाँ करके कह दें कि यह एक बेहद कामयाब इंसान की ज़िंदगी की कहानी है। जैसा कि हर कहानी में होता है, इसका भी एक उद्‌गम, एक मध्य और एक अंत है। अंत के बाद हम स्मृतियों में चले जाते हैं। अतीत-मोह हमारे ऊपर छा जाता है। इस तरीक़े से अगर हम देखें तो मुशीरुल हसन की ज़िंदगी वाक़ई में एक कामयाब ज़िंदगी थी। उनके वालिद बहुत बड़े इतिहासकार थे। उनकी डाली गयी इतिहासनिग़ारी की परम्परा पर चलते हुए उनके बेटे ने बहुत कुछ हासिल किया। इतना कुछ कि जो कई मायनों में उन्हें उनके वालिद मुहीबुल हसन, जो अलीगढ़ के थे, से कहीं आगे ले जाता है। लेकिन मुशीरुल हसन को याद करने का यह तरीक़ा मुझे काफ़ी घिसा-पिटा, रद्दी और बेमानी लगता है। ख़ास तौर अगर हम उनकी यादों को उन अकादमीय उपलब्धियों के आईने में देखें जो उन्होंने हासिल कीं। मुशीरुल हसन को याद करने का दूसरा तरीक़ा हमारे कुछ सेकुलर दोस्तों के लेखन के ज़रिये सामने आया है। इसमें कहा गया है कि आज जब उनकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, तब वे नहीं हैं। और ऐसा भी कहा गया है कि अगर वे होते तो क्या होता। ऐसी बातें पढ़ कर तो ख़ैर ग़ालिब ही याद आते हैं, क्योंकि इस तरह के हालात पर उनका एक बड़ा माकूल शेर है :

हुई मुद्दत तो ग़ालिब मर गया, पर याद आता है।
वो हर एक बात पर यूँ कहना, यूँ होता तो क्या होता।

अगर इस तरह मुशीरुल हसन को याद करना है तो मुझे लगता है कि वह भी सही तरीक़ा नहीं है। इस तरह से उनके कामों का मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसकी बुनियादी वजह यह है कि मुशीरुल हसन का सार्वजनिक जीवन में आना या पब्लिक इंटलेक्चुअल के रूप में स्थापित होना या एक वाइस

मुशीरुल हसन ने जिस मुद्दे को सम्बोधित किया वह था : क्या मुसलमानों पर भारत–विभाजन का दोषारोपण करना जायज़ है? क्या मुसलमानों ने देश का विभाजन किया और उन्हें पाकिस्तान मिल गया? इसी के साथ उन्होंने हिंदुस्तान में उनकी हालत, अल्पसंख्यक अधिकार और अल्पसंख्यकवाद जैसे आयामों पर सार्वजनिक विमर्श और अकादमिक बहसों पर गहन काम करके एक परम्परा स्थापित की। ज़ाहिर है कि उन्हें अपने सवाल पता थे। उन्होंने अपने सवाल सार्वजनिक जीवन से उठाए, बौद्धिक जगत के स्रोतों के ज़रिये उनका हल दरपेश किया और फिर उसे सार्वजनिक जीवन में स्थापित किया। यह उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

चांसलर के तौर पर जामिया मिलिया इस्लामिया में उनका योगदान किसी भी तरह से एक ऐक्टिविस्ट वाला योगदान नहीं है। वे एक बौद्धिक हस्ती थे, और उनकी बौद्धिकता को सिर्फ़ सेकुलर ख़ेमे का प्रतिनिधि मानना उपयुक्त नहीं है। यानी, मेरे अपने विचार से न तो बायोडाटा स्टाइल स्मृति–शेष और न ही यह तरीक़ा कि यह होता तो क्या होता, एक माक़ूल तरीक़ा है जिसके आधार पर मुशीरुल हसन का हमारा यह स्मृति–शेष लिखा जाना चाहिए।

तब सवाल उठता है कि मुशीरुल हसन को कैसे याद किया जाए? मेरी अपनी निजी मान्यता है और इसे मैं निजी इसलिए कह रहा हूँ कि मेरा उनके साथ सीमित परिचय ही रहा है। मैं उन्हें एक पाठक के रूप में जानता हूँ। और, पाठक के लिए एक लेखक अपने–आप में एक रचना होती है, और जो रचनाएँ हैं वे कभी मरती नहीं हैं। इसीलिए एक व्यक्ति जिनका नाम मुशीरुल हसन है, जिनसे मैं शायद एक या दो बार मिला, या जिन्हें दो या चार बार देखा, एक लेखक के तौर पर हमेशा मेरे साथ हैं, साथ थे और साथ रहेंगे। चूँकि रचनाएँ कभी मरती नहीं, इसलिए उन्हें याद करने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि उनकी रचनाओं के साथ सफ़र किया जाए। मुझे लगता है कि इस सफ़र के भी दो सम्भव तरीक़े हो सकते हैं। एक यह कि हम मुशीरुल हसन के काम को अपने आज के संदर्भ में रख कर देखें, और सवाल पूछें कि उसकी प्रासंगिकता क्या है। दूसरा तरीक़ा यह कि मुशीरुल हसन के काम के विकास–क्रम के साथ इस यात्रा में उनके साथ सफ़र करें। साथ ही देखें कि अलग–अलग समय में उनकी बौद्धिक यात्रा किन–किन पड़ावों से गुज़री और गुज़रने के बाद उन्होंने क्या–क्या हासिल किया। मैं दोनों रास्तों पर साथ–साथ चलने की कोशिश करता हूँ।

यह बात शाहिद अमीन ने भी अपने एक संस्मरण में लिखी है। अमीन के मुताबिक़ मुशीरुल हसन के बारे में कि एक बात तो तय है कि वे अपने लक्ष्यों के बारे में पूरी तरह साफ़ थे। हमारे बहुत सारे बौद्धिक दोस्त इस चीज़ को नहीं समझ पाते। या तो उन्हें चीज़ें बताई जाती हैं, या फिर वे उस धारा में बह जाते हैं। और बह जाने के बाद ही वे समझ पाते हैं कि उन्हें करना क्या है। अगर मुशीरुल हसन के बारे में शाहिद अमीन की बात सही है, तो भी मुझे लगता है कि इतिहासकार के रूप में मुशीरुल हसन के जो सवाल थे वे हमेशा उनके साथ रहेंगे। चाहे उनका डॉ. एम.ए. अंसारी पर किया गया काम हो, या विभाजन की प्रक्रिया को लेकर लिखी गयी उनकी किताब हो, या आज़ादी से पहले मुसलमान राजनीति और समाज के बदलते चरित्र की व्याख्या हो, या आज़ादी के बाद *द लीगेसी ऑफ़ डिवाइडिड नेशन : इण्डियाज़ मुस्लिम्ज़ सिंस इण्डिपेंडेंस (1997)* की बात हो। दरअसल, मुशीर द्वारा रचे गये साहित्य पर एक निगाह डालने से भारतीय मुस्लिम समुदाय के इतिहासकार के रूप में उनकी अन्यतम उपलब्धियों का अंदाज़ा लग जाता है : *इस्लाम इन द सबकांटिनेंट : मुस्लिम्ज़ इन अ प्लूरल सोसाइटी (2002), फ़्रॉम प्लूरलिज़्म टू सेपरेटिज़्म : क़स्बाज़*

इन कोलोनियल सोसाइटी (2003), मेकिंग सेंस ऑफ़ हिस्ट्री : सोसाइटी, कल्चर ऐंड पॉलिटिक्स (2003), अ मॉरल रेकनिंग : मुस्लिम इंटलेक्चुअल्स इन नाइंटींथ-सेंचुरी (2005), मॉडरेट ऑर मिलिटेंट ? इमेजिज़ ऑफ़ इण्डियाज़ मुस्लिम्ज़ (2008)।

मुशीरुल हसन को अपने सवालों का पता था, और उनके जवाब हासिल करने की प्रक्रिया का रास्ता भी पता था। शायद सबसे बड़ी बात उन्हें इस बात की जानकारी होना भी था कि इन सवालों को हासिल करने के बाद उनका प्रस्तुतीकरण कैसे किया जाए। आम तौर पर ये तीनों ख़ूबियाँ लोगों में नहीं होतीं। सवाल तक पहुँचने के स्रोतों का पता लगाना एक इतिहासकर के तौर पर ज़रूरी तो होता ही है। इसके साथ ख़ूबी यह थी कि सवाल का प्रस्तुतीकरण उस दुनिया में कैसे किया जाए जो अकादमिक दुनिया से बाहर है। यानी जिसे हम पब्लिक डिस्कोर्स या सार्वजनिक विमर्श कहते हैं। उस दायरे में अपनी बात को कैसे स्थापित किया जाए— मुझे लगता है कि मुशीरुल हसन के साथ उनकी बौद्धिक यात्रा का सफ़र करने पर यह बात निकल कर सामने आती है।

इसको मैं और आमफ़हम शब्दों में कहूँ तो मुशीरुल हसन ने दिखाया कि हिंदुस्तानी मुसलमान एक नहीं हैं। बहुत सारे हैं और अलग-अलग तरीक़े के हैं। इसलिए उनके राजनीतिक-सामाजिक रुझान भी अलग-अलग हैं। इसलिए केवल हिंदुस्तान-पाकिस्तान का बँटवारा होना वग़ैरह एक बेहद सरलीकृत सवाल है। इस तरह के सवालों का जवाब देने के लिए उन्होंने एक बेहद ठोस आधार पर एक बौद्धिक इमारत खड़ी की। मुझे लगता है अपने इस उद्यम में वे बेहद कामयाब हुए। इसे उन्होंने सिर्फ़ अकादमिक दुनिया में ही स्थापित नहीं किया, बल्कि जैसा कि मैंने कहा कि उन्होंने इसे सार्वजनिक दुनिया में भी स्थापित किया।

अस्सी के दशक के दौरान मुशीरुल हसन ने जिस मुद्दे को सम्बोधित किया वह था : क्या मुसलमानों पर भारत-विभाजन का दोषारोपण करना जायज़ है ? क्या मुसलमानों ने देश का विभाजन किया और उन्हें पाकिस्तान मिल गया ? इसी के साथ उन्होंने हिंदुस्तान में उनकी हालत, अल्पसंख्यक अधिकार और अल्पसंख्यकवाद जैसे आयामों पर सार्वजनिक विमर्श और अकादमिक बहसों पर गहन काम करके एक परम्परा स्थापित की। ज़ाहिर है कि उन्हें अपने सवाल पता थे। उन्होंने अपने सवाल सार्वजनिक जीवन से उठाए, बौद्धिक जगत के स्रोतों के ज़रिये उनका हल दरपेश किया और फिर उसे सार्वजनिक जीवन में स्थापित किया। यह उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि थी।

लेकिन, इसी के साथ एक पाठक के तौर पर मैं मुशीरुल हसन द्वारा उठाए गये सवालों और जवाबों को अपने संदर्भों में भी देखना चाहता हूँ। यहाँ मुझे लगता है कि इस नज़रिये से मुशीरुल हसन के काम की जो ख़ूबी है, दरअसल वही कहीं न कहीं उनकी कमी भी बन जाती है। इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय मुसलमानों को विभाजन के लांछन से निकालने के लिए एक बौद्धिक तर्क की स्थापना करना बहुत मेहनत का काम था जिसे उन्होंने कामयाबी से किया। लेकिन इस कामयाब जवाब को देते वक़्त बहुत से ऐसे सवाल भी थे जिनका भौतिक जवाब देना भी बहुत ज़रूरी था। वहीं पर मुझे लगता है कि वे डगमगाते से दिखते हैं। इस डगमगाहट का पाठक के तौर पर एक आलोचनात्मक मूल्यांकन होना भी बेहद ज़रूरी है। दो उदाहरणों से मैं यह बात साबित करना चाहूँगा।

उनकी किताब *लीगेसी ऑफ़ डिवाइडिड नेशन* मेरे विचार से बहुत अहम किताब है। इस किताब का संदर्भ बेहद महत्त्वपूर्ण है। यह है 1991-92 का यानी 1988 के बाद का। 1988 की दो घटनाएँ बहुत अहम हैं इस किताब को समझने के लिए। मुझे लगता है कि इसके ज़रिये हिंदुस्तान के बौद्धिक जीवन का सार्वजनिक सार हमारे सामने काफ़ी हद तक नुमायाँ हो सकता है। इस दौर में दो बहुत अहम घटनाएँ घटती हैं। सलमान रुश्दी की रचना *सेटेनिक वर्सेज़* पर सरकार प्रतिबंध लगा देती है। उस समय मुशीरुल हसन जामिया मिलिया इस्लामिया के प्रो-वाइस चांसलर हैं और इसी दौर में साथ-ही-साथ एक नया आंदोलन खड़ा हो रहा है। अयोध्या में जिसे पहले बाबरी मस्जिद कहा

एक सवाल जो मुशीरुल हसन के लेखन में नहीं आ पाया, वह था कि मुसलमानों में सामाजिक विविधता तो है, पर उन विविधतापूर्ण समुदायों में क्या एकरूपता है जो कि उन्हें एक संवैधानिक दर्जा देती है ? इस सवाल का जवाब न देने के कारण ही वे अल्पसंख्यकवाद को बौद्धिक रूप से सम्बोधित नहीं कर पाए। इस रवैये के कारण ही अल्पसंख्यकवाद हिंदू बहुसंख्यकवाद के बढ़ने का एक कारण बना।

जाता था और जिसका नाम बदल कर अब विवादित ढाँचा हो गया है, वहाँ पर राम का मंदिर बनाने की दावेदारी की जाती है। एक तरफ़ तो रुश्दी की किताब का हिंदी अनुवाद करने का प्रस्ताव किया जा रहा है, और दूसरी तरफ़ ईरानी क्रांति के नेता अयातुल्ला ख़ुमैनी ने उस किताब पर न सिर्फ़ प्रतिबंध लगाया बल्कि यह भी कह दिया कि उसके लेखक रुश्दी का सर क़लम कर देना चाहिए। साथ में अयोध्या के आंदोलन में कहा जा रहा है कि बाबर ने हिंदुस्तान आ कर हिंदू आस्थाओं का मज़ाक उड़ाते हुए राम की जन्म भूमि पर बने एक मंदिर को तोड़ कर एक मस्जिद बना दी। इसलिए जो हिंदुस्तानी मुस्लमान हैं, वे बाबर की औलाद हैं। वे पाकिस्तान तो पहले ही ले चुके हैं। इसलिए ज़रूरी है कि इस मस्जिद को तोड़ कर एक मंदिर बनाया जाए।

एक तरफ़ तो हिंदू साम्प्रदायिकता है और दूसरी तरफ़ मुस्लिम साम्प्रदायिकता। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का दबाव राजीव गाँधी पर इतना ज़्यादा है कि *सेटेनिक वर्सेज़* पर हिंदुस्तान में भी प्रतिबंध लगा दिया जाता है। दिलचस्प बात यह होती है कि इस समय मुशीरुल हसन दोनों तरह की साम्प्रदायिकता का विरोध करते हुए दिखते हैं। वे सिर्फ़ हिंदू साम्प्रदायिकता के ही निशाने पर नहीं हैं, बल्कि मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भी विरोध कर रहे हैं। यह 1991-92 की बात है जब वे कहते हैं कि इस किताब पर प्रतिबंध लगाना ग़लत है, बावजूद इसके कि यह किताब उन्हें कोई ख़ास पसंद नहीं थी। इसी मुक़ाम पर एक बहुत दिलचस्प घटनाक्रम चलता है। बहुत तेज़ी से चीज़ें बदलती हैं। जामिया के अंदर स्टुडेंट यूनियन मुशीरुल हसन का सर क़लम करने का आह्वान करती है। जामिया में पढ़ाने वाले कई अध्यापक भी इन छात्रों के साथ आ जाते हैं। कहा जाता है कि मुशीरुल हसन को जामिया में नहीं घुसने देना चाहिए। इस तरह एक स्थापित इतिहासकार और संस्थान-निर्माता को जामिया से निकाल दिया जाता है। इसके बाद वे दो-तीन साल तक विश्वविद्यालय के परिसर में घुस नहीं पाते।

बहरहाल, मामला रफ़ा-दफ़ा होता है, और मुशीरुल हसन वापिस आते हैं जामिया में और फिर इस विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर भी बनते हैं। इसी घटनाक्रम के दौरान, यानी मुशीरुल हसन को निकाला जाना और इसी समय अयोध्या में मस्जिद तोड़ा जाना, *लीगेसी ऑफ़ डिवाइडिड नेशन* लिखी जाती है। यह बहुत ही दिलचस्प किताब है, पर एक पाठक के तौर पर मुझे इस पर कुछ आपत्तियाँ हैं जो इस रचना के राजनीतिक सहीपन से जुड़ी हैं। हिंदू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकता का विरोध करते-करते एक मुक़ाम पर आ कर मुशीरुल हसन व्यक्तिगत हो जाते हैं। वे इस तरह से चीज़ों को रखना शुरू कर देते हैं जैसे भारत में साम्प्रदायिकता से लड़ने की सारी ज़िम्मेदारी कुछ ख़ास परिवारों ने ही ले रखी है और सेकुलरिज़्म की परम्परा उन्हीं परिवारों पर टिकी है।

इसके तहत वे कई परिवारों का ज़िक्र करते हैं। वे हसन सुरूर का ज़िक्र करते हैं जो लंदन में *द हिंदू* के प्रतिनिधि हैं। वे सीमा चिश्ती के परिवार का ज़िक्र करते हैं। वे अपने परिवार का ज़िक्र करते हैं। वे इरफ़ान हबीब के परिवार का ज़िक्र करते हैं और कहते हैं कि ये परिवार सेकुलर परिवार हैं। सोचने की बात है कि अगर हिंदुस्तान में सेकुलरिज़्म बचाने की ज़िम्मेदारी पाँच-छह पढ़े-लिखे परिवारों को दे दी जाएगी तो बड़ी मुश्किल हो जाएगी। इसका कारण यह है कि अगर साधारण धर्मप्राण मुसलमानों

और धर्मप्राण हिंदुओं को सेकुलरवाद के लिए होने वाले संघर्ष से हटा कर सारा ज़िम्मा राजनीतिक तौर पर सही परिवारों को ही दे दिया जाएगा, तो सेकुलरवाद के लिए होने वाली लड़ाई का क्या हश्र होगा, इसका अंदाज़ा लगाया जा सकता है। तब हम अपने-आपको समाज से काट लेंगे।

मुझे लगता है कि इस तरह की पॉलिटिकल करेक्टनेस ने काफ़ी नुक़सान पहुँचाया है। इसी प्रवृत्ति के कारण कुछ बौद्धिक सवालों के जवाब मुशीरुल हसन ने कभी दिये ही नहीं। 1993 के बाद हिंदू साम्प्रदायिकता का चरमपंथी स्वरूप धीरे-धीरे घटता गया। तभी कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने उसके उभार में फिर से योगदान दिया। एक घटना थी 1993 में पाँच धार्मिक समुदायों को राष्ट्रीय अल्पसंख्यक घोषित करना। अगर हम यह कह रहे हैं कि पाँच समुदाय राष्ट्रीय अल्पसंख्यक धार्मिक आधार पर हैं, तो क्या हम यह भी कह रहे हैं कि बहुसंख्यक होने का आधार भी धार्मिक है? अगर ऐसा है तो क्या हिंदू बहुसंख्यकवाद के लिए हमारा यह रवैया ज़िम्मेदार नहीं होगा? एक सवाल जो मुशीरुल हसन के लेखन में नहीं आ पाया, वह था कि मुसलमानों में सामाजिक विविधता है, पर उन विविधतापूर्ण समुदायों में क्या एकरूपता है जो कि उन्हें एक संवैधानिक दर्जा देती है? इस सवाल का जवाब न देने के कारण ही वे अल्पसंख्यकवाद को बौद्धिक रूप से सम्बोधित नहीं कर पाए। इस रवैये के कारण ही अल्पसंख्यकवाद हिंदू बहुसंख्यकवाद के बढ़ने का एक कारण बना।

एक पाठक के दृष्टिकोण से मुशीरुल हसन को याद करते समय यह कहने में मुझे कोई गुरेज़ नहीं है कि मैंने उनसे बहुत सीखा है। मैं एक व्यक्तिगत बात कह कर इस स्मृति-शेष को ख़त्म करना चाहता हूँ। जिस जामिया मिलिया इस्लामिया में सलमान रुश्दी का सर क़लम करने की बात कही गयी हो, उसे बिल्कुल बदल देना, उसकी छोटी-सी-छोटी चीज़ों को इस तरह से दुबारा ज़िंदा करना कि उसमें हिंदुस्तानी सेकुलरवाद की छवि स्थापित हो जाए— यह मुझे लगता है कि मुशीरुल हसन का सबसे बड़ा योगदान है। जैसा कि मैंने कहा मेरी आलोचनाएँ पाठकीय आलोचनाएँ हैं जो रहनी ही चाहिए।

अगर हिंदुस्तानी मुसलमानों पर आपको रिसर्च करनी है तो उसको दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है। एक मुशीरुल हसन के पहले का हिस्सा और एक मुशीरुल हसन के बाद का हिस्सा। हिंदुस्तानी मुसलमानों को समझने के लिए मुशीरुल हसन हमारे लिए एक संदर्भ बिंदु रहेंगे। एक इतिहासकार के तौर पर उनको याद करने का यह सबसे सही तरीक़ा है। मुशीरुल हसन उन इतिहासकारों में से हैं जो न केवल इतिहास लिखते हैं बल्कि इतिहास बनाते भी हैं। और, शायद अब वे इतिहास बन भी चुके हैं।